

भारतीय जन जीवन में सांस्कृतिक परम्परा का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे तो भारतवर्ष में अनेक संस्कृतियाँ प्रचलित हैं किन्तु संस्कृति की विविधता होते हुए उनमें भारतीयत्व की गहरी छाप लगी है, अतः भारतीयता के नाते समस्त संस्कृतियाँ एक हैं और उनका एकरूपत्व निहित है भारतीय संस्कृति में। अभिप्राय यह है कि भारतीय संस्कृति शब्द का उच्चारण करने से भारत में स्थित समस्त संस्कृतियाँ उसमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। फिर भी प्रत्येक संस्कृति का अपना-अपना पृथक-पृथक अस्तित्व एवं महत्व है। भारत की सांस्कृतिक परम्परा जो समय के उतार-चढ़ाव में से गुजरती हुई अपने लम्बे मार्ग में भीषण आघातों और कठिनाइयों को झेलती आई है किसी एक जाति, एक सम्प्रदाय, एक विचारधारा की उपज नहीं है, अपितु यह तो अनेक जातियों, अनेक सम्प्रदायों और अनेक विचारधाराओं की उपज है जिनका सम्मेलन भारत की पवित्र धरा पर हुआ है, जिनका इतिहास यहाँ की विविध अनुभूतियों, लोकोक्तियों और पौराणिक कथाओं में छिपा पड़ा है और जिनके अवशेष यहाँ के प्राचीन जनपदों, प्राचीन पुर और प्राचीन नगरों के खण्डहरों में दबे पड़े हैं। मांहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त अवशेष इसके साक्षी हैं।

यह एक आश्चर्यजनक किन्तु निर्विवाद तथ्य है कि विचारधाराओं की विविधता होते हुए भी भारतीय संस्कृति में अद्भुत एकरूपता है। यही कारण है कि विदेशियों के विभिन्न आक्रमणों, आघातों, विनाश-लीलाओं और अत्याचारों के बावजूद आज भी उसमें वही स्थिरता और नूतनता विद्यमान है जो पूर्वकाल में थी। यों तो संसार के प्रायः सभी बड़े देशों ने बड़ी-बड़ी सभ्यताओं और संस्कृतियों को जन्म दिया है। बेबीलोन और फिलस्तीन, मिश्र और चीन, रोम और यूनानी सभी सभ्यताओं ने अपनी कृतियों से मानवीय गौरव को बढ़ाया है, किन्तु इनमें से किसी को भी वह स्थिरता प्राप्त नहीं हुई जो भारतीय संस्कृति को प्राप्त हुई है। ये सभी संस्कृतियाँ संसार में उषा की भाँति आयीं और संध्या की भाँति चली गयीं किन्तु इस धूप और छाया के माहौल में तथा आँधी और तूफान के झंझावातों में भी अडिग भारतीय संस्कृति सुस्थिर बनी हुई है। यही कारण है कि आज भी विश्व में भारतीय संस्कृति को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें प्रमुख है भारतीय मनीषियों, महर्षियों और योगियों की चिंतनधारा, प्रबुद्ध विचारकों, आचार्यों, उपाध्यायों और विद्वज्जनों के गम्भीर अनुभवों की आधारशिला तथा समाज के सभी

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

वर्गों की विविधात्मक परम्पराएँ। इन सभी कारणों के मूल में वह उच्च आध्यात्मिक आदर्श, जो मानव को वस्तुतः मानव बनने की प्रेरणा देता है और अपने वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन को समुन्नत करने के लिए सतत रूप से प्रेरित करता है।

विचारों की विविधता, दृष्टिकोण की भिन्नता तथा मान्यता व परम्पराओं की अनेकरूपता के कारण भारत ने समय-समय पर अनेक संस्कृतियों को जन्म दिया है जो एक ही वृक्ष के नीचे अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुई हैं। यही कारण है कि संस्कृतियों की विविधता होते हुए भी उनमें आश्चर्य-जनक एकरूपता है। यद्यपि सभी संस्कृतियों में लक्ष्य रूप में मानवता का हित सन्निहित है और यह सर्वोपरि है, तथापि सामान्यतः भारतवर्ष में प्रचलित समस्त संस्कृतियों का स्वरूप-विभाजन संक्षेप में दो रूप से किया जा सकता है—सामाजिक और आध्यात्मिक।

भारतीय संस्कृति का सामाजिक स्वरूप वह है जो विविध कलाओं, विज्ञान, अनुसन्धान एवं आविष्कारों से निरन्तर परिपोषित एवं संवृद्ध होता रहता है। संस्कृति का इससे भिन्न अर्थात् आध्यात्मिक स्वरूप वह है जो प्राणिमात्र के कल्याण की महान भावना से परिपूर्ण तथा जीवन की सार्थकता के लिये विविध धार्मिक अनुष्ठानों से युक्त है। संस्कृति के इस आध्यात्मिक पक्ष का साकार रूप है श्रमणसंस्कृति, जिममें इहलौकिक, भौतिक व क्षणिक सुखों के लिये न कोई स्थान है और न कोई मान्यता। श्रमणसंस्कृति का समग्र स्वरूप पूर्णतः अहिंसात्मक, अपरिग्रहात्मक व अनेकान्तात्मक है जिससे जगत में हिंसा का तांडव बन्द होकर सम्पूर्ण पापाचार निर्मूल हो, सामाजिक विषमता व अराजकता दूर हो तथा विश्व में स्थायी सुख, शांति व समता का साम्राज्य स्थापित हो। आसक्ति, परिग्रह, हिंसा और दुराग्रह के लिये इस संस्कृति में कोई स्थान नहीं है।

२७६

आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति के मूल में समानांतर दो विचारधाराएँ प्रवाहित होती रही हैं— १. वैदिक विचारधारा और २. श्रमण विचारधारा। जहाँ श्रमण विचारधारा ने भारतवासियों को आंतरिक शुद्धि और सुख-शांति का मार्ग बतलाया वहाँ ब्राह्मणों ने बाह्य सुख-शांति और बाह्य शुद्धि को विशेष महत्व दिया। श्रमणों ने जहाँ लोगों को निश्चय एवं मोक्ष का मार्ग बतलाया, ब्राह्मणों ने वहाँ लौकिक अभ्युदय के लिये विभिन्न उपाय अपनाकर लोगों का मार्गदर्शन किया। श्रमण विचारधारा ने व्यक्तिगत रूप से आत्मकल्याण की भावना से लोक कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। 'जिओ और और जीने दो' के व्यावहारिक रूप में विश्व को अहिंसा का सन्देश देकर प्राणिमात्र के प्रति समता भाव का अपूर्व आदर्श जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया।

दूसरी ओर ब्राह्मण वर्ग ने वर्ण व्यवस्था के द्वारा न केवल समाज में फेली अव्यवस्था अपितु विभिन्न सामाजिक विरोधों को दूर कर धार्मिक मान्यताओं एवं क्रिया-कलापों को दृढ़मूल किया। श्रमण वर्ग सदा अपनी आत्मा का निरीक्षण करने के कारण अन्तर्दृष्टि बना रहा जबकि ब्राह्मण विचारधारा ने शरीर के संरक्षण को विशेष महत्व दिया। जहाँ श्रमण इसे आदर्श देते रहे वहाँ ब्राह्मण इसे विधान के द्वारा पूर्ण करते रहे। जहाँ श्रमण विचार-प्रवाह वास्तविकता को सिंचित करता रहा वहाँ ब्राह्मण समुदाय व्यावहारिक कार्यकलापों से जीवन को पूर्ण बनाते रहे। इस आत्मा और शरीर, आदर्श और विधान, निश्चय और व्यवहार के अभूतपूर्व सम्मेलन से ही भारत की सर्वलोक कल्याणकारी संस्कृति का निर्माण हुआ है और इसी के परिणाम-स्वरूप इसे चिरंतन स्थिरता प्राप्त हुई है।

संस्कृति और श्रमण शब्द का अर्थ

व्याकरण के अनुसार संस्कृति शब्द का अर्थ है संस्कार-सम्पन्नता। संस्कार से वस्तु उत्कृष्ट बन

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

जाती है अथवा कहना चाहिए कि संस्कार किए जाने पर वस्तु अपने में निहित उत्कर्ष को अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त करती है, संस्कार किए जाने पर ही खनिज सुवर्ण शुद्ध स्वर्ण बनता है। मनुष्य भी संस्कृति के द्वारा अपनी आत्मा और शरीर का संस्कार परिष्कार कर अपने उच्चतम ध्येय और संकल्पों को पूर्ण करने के लिए दिशा प्राप्त करता है। एक कलाकार अनगढ़ पाषाण में छेनी और हथौड़े की सहायता से वीतराग प्रभु की मुद्रा अंकित कर देता है। एक चित्रकार विविध रंगों और तूलिका की सहायता से केनवास पर सुन्दर चित्र बना देता है। इसी प्रकार संस्कृति भी मनुष्य के अंतस्थ सौन्दर्य को प्रकट कर देती है। यही मनुष्य के आचार-विचार को बनाती और संवारती है। ये आचार-विचार और व्यवहार संस्कृति के मूल स्रोत के साथ संबद्ध होकर उसका परिचय देते हैं।

अतः जब हम संस्कृति का सम्बन्ध श्रमण सन्त के साथ करते हैं तो हमारे सामने श्रमण धर्म और उसके आचार-विचार स्पष्ट हो उठते हैं। श्रमण शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करने की दृष्टि से कहा गया है—“श्राम्यति तपः क्लेशं सहते इति श्रमणः।” अर्थात्—जो स्वयं तपश्चरण करते हैं तथा क्लेश को सहते हैं वे श्रमण कहलाते हैं, अतः श्रमण शब्द का सामान्य अर्थ है निर्ग्रन्थ (अपरिग्रही) मुनि और श्रमण संस्कृति का अर्थ हुआ वह संस्कृति जिसका सम्बन्ध निर्ग्रन्थ जैन मुनि से है तथा जिसके प्रस्तोता व प्रवर्तक निर्ग्रन्थ जैन मुनि हैं, और भी अधिक स्पष्ट रूप से इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—जिन आचार-विचार, आदर्शों और व्यवहारों का आचरण व उपदेश निर्ग्रन्थ जैन मुनियों के द्वारा किया गया है, वह श्रमण संस्कृति है। भगवान् ऋषभदेव प्रथम निर्ग्रन्थ मुनि हैं और वे ही प्रथम श्रमण हैं, अतः उनके द्वारा आचरित और उपदिष्ट जिन आचार-विचार, व्यवहार और आदर्शों का प्रचार-प्रसार व प्रचलन हुआ वही

संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है, दूसरे रूप में इसे जैन संस्कृति भी कहा जा सकता है।

श्रमण संस्कृति अथवा जैन संस्कृति में मानवता के वे उच्च आदर्श, आध्यात्मिकता के वे गूढतम रहस्यमय तत्व तथा व्यावहारिकता के वे अकृत्रिम सिद्धान्त निहित हैं जो मानव मात्र को चिरन्तन सत्य की अनुभूति व साक्षात्कार कराते हैं। मानवता के हित साधन में अग्रणी होने के कारण यह मानव संस्कृति भी कहलाती है।

श्रमण और श्रामण्य

“श्रमणस्य भावः श्रामण्यम्”—अर्थात् श्रमण के भाव को ही श्रामण्य कहते हैं, संसार के प्रति मोह या ममत्वभाव का पूर्णतः त्याग अथवा संसार से पूर्णतः संन्यास ग्रहण करना ही श्रामण्य कहलाता है और इस प्रकार के श्रामण्य से युक्त पुरुष श्रमण कहलाता है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि निर्ग्रन्थ जैन मुनि ही श्रमण होता है। श्रमण पंच महाव्रतों का पालक एवं समस्त सांसारिक वृत्तियों का परित्यक्त होता है। वह निष्कर्मभाव की साधना से पूर्ण एकाग्रचित्तपूर्वक आत्मचिन्तन में लीन रहता है, आडम्बरपूर्ण व्यावहारिकता एवं क्रिया-कलापों के लिए उसके जीवन में कोई स्थान नहीं रहता। सम्पूर्ण बाह्य जगत उसके लिए अन्धकाराच्छन्न हो जाता है किन्तु उसका अन्तःकरण आत्मज्योतिपुंज से आलोकित हो जाता है जिससे वह संसार के समस्त भावों को अविच्छिन्न रूप से देख सकता है। विशुद्ध, परिपूर्ण एवं अव्याहत केवल-ज्ञान उसमें सम्पूर्ण आत्मप्रदेश को आलोकित करता हुआ संसार की समस्त सीमाओं व बाधाओं को लांघकर श्रमण को त्रिकालदर्शी बनाकर परम उत्कृष्ट अर्हत् पद पर आसीन कर देता है। यही उसके श्रामण्य की चरम सीमा है।

श्रमण के जीवन में संयम एवं तपश्चरण के आचरण का विशेष महत्व है, उसका संयमपूर्ण जीवन उसे सांसारिक वृत्तियों की ओर अभिमुख

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

२७७

होने से रोकता है और तपश्चरण उसकी कर्मनिर्जरा में सहायक होता है। संयम के बिना वह तपश्चरण की ओर अभिमुख नहीं हो सकता और तपश्चरण के बिना उसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसका मोक्षप्राप्ति हेतु आत्मसाधन का ध्येय अपूर्ण ही रह जाता है, अतः सुनिश्चित है कि संयम धर्म तपश्चरण का अनुपूरक है। इस विषय में आचार्यों के अनुसार—“इच्छानिरोधो तपः”— अर्थात्—इच्छाओं का निरोध करना तप कहलाता है, तप का यह लक्षण संयम और तप के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। क्योंकि इच्छाओं (इन्द्रियजनित वासनाओं) का निरोध करना ही संयम है और उसके सान्निध्य से विहित क्रियाविशेष ही तपश्चरण है।

संसार में समस्त इच्छाएँ और वासनाएँ इन्द्रियजनित होती हैं, इनकी अभिव्यक्ति सांसारिक व भौतिक क्षणिक सुखों के लिए होती है। इन इच्छाओं एवं वासनाओं को रोककर संसार के प्रति विमुखता इन्द्रियों को अपने अधीन करना तथा चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही संयमबोधक होती है। इस प्रकार के संयम का चरम विकास मनुष्य के मुनित्व जीवन में ही संभावित है, अतः संयमपूर्ण मुनित्व जीवन ही श्रामण्य का द्योतक है।

श्रमण परम्परा के अनुसार आपेक्षिक दृष्टि से गृहस्थ को निम्न एवं श्रमण को उच्च स्थान प्राप्त है। किन्तु साधना के क्षेत्र में निम्नोच्च की कल्पना को किञ्चित् मात्र भी प्रश्रय नहीं दिया गया है। वहाँ संयम की ही प्रधानता है। इस विषय में उत्तराध्ययन में भगवान महावीर के निम्न वचन अनुकरणीय एवं दृष्टव्य हैं—“अनेक गृहत्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम प्रधान है।” इस प्रकार श्रमण संस्कृति में संयमपूर्ण साधना को ही विशेष महत्व दिया गया है। श्रमण परम्परा के अनुसार मोहरहित व्यक्ति गाँव में भी साधना कर सकता है, और अरण्य में भी। कोरे

वेशपरिवर्तन को श्रमण परम्परा कब महत्व देती है? साधना के लिए मात्र बाह्य वेष ही पर्याप्त नहीं है अपितु तदनुकूल विशिष्टाचरण भी अपेक्षित है।

अपने विशिष्टाचरण एवं त्याग भावना के कारण ही श्रमण सदैव गृहस्थ की अपेक्षा उच्च माना गया है, अतिचार रहित व्रतों का पालन करना ही उसका वैशिष्ट्य है, मनसा, वाचा और कर्मणा पांच महाव्रतों सहित सत्ताईस मूलगुणों तथा उत्तर गुणों का पालन व अनुशीलन उसकी आत्मा की शुद्धि व निर्मलता के लिए नितान्त आवश्यक है, इससे उसकी आत्मा निरन्तर सांसारिक कर्म बन्धन से मुक्त होकर मोक्षाभिमुख अग्रसर होता है।

श्रमण और गृहस्थ का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है—“वह पास भी नहीं है और दूर भी नहीं है, भोगी भी नहीं है और त्यागी भी नहीं है। जिसने भोग छोड़ा, किन्तु आसक्ति नहीं छोड़ी, अतः वह न भोगी है और न त्यागी है। भोगी इसलिए नहीं है कि भोग नहीं भोगता और त्यागी इसलिए नहीं है कि वह आसक्ति (भोग) की भावना का त्याग नहीं कर सका।”

“पराधीन होकर भोग का त्याग करने वाला त्यागी या श्रमण नहीं है, त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावनापूर्वक भोग से दूर रहता है।”

— दशवैकालिक २/२

आत्म-साधना के पथ पर आरूढ़ होकर निरन्तर पांच महाव्रतों का अखंड रूप से पालन करने वाला, दस धर्मों का सतत् अनुचिन्तन, मनन और अनुशीलन करने वाला, बाईस परीषहजय तथा रत्नत्रय को धारण करने वाला, शुद्ध परिणामी, सरल स्वभावी, अन्तर्मुखी दृष्टि से आत्मसाक्षात्कार हेतु प्रयत्नशील तथा श्रमण धर्म को धारण करने वाला साधु ही श्रमण कहलाता है और निज स्वरूपाचरण में प्रमाद न होना उसका श्रामण्य है। श्रमण सदैव राग-द्वेष आदि विकार भावों से दूर रहता है। ये ही विकार सांसारिक मोह और ममता के मूल कारण हैं। इन

विकार भावों से श्रमण की आत्मसाधना में बाधा उत्पन्न होती है और वह अपने लक्ष्य से विचलित हो जाता है, इसी प्रकार क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषाय मनुष्य को सांसारिक बन्धन में बांधने वाले मुख्य मनोविकार हैं। आत्मस्वरूपान्वेषी साधक श्रमण सदैव इन कषायों का परिहार करता है, ताकि वह अपनी साधना से विचलित न हो सके। चंचल मन और विषयाभिमुख इन्द्रियों के पूर्ण नियन्त्रण पर ही श्रमण साधना निर्भर है। आत्मसाधक श्रमण के श्रामण्य की रक्षा के लिए इस प्रकार राग-द्वेष आदि विकार भाव, क्रोध आदि चार कषायों का परिहार करते हुए इन्द्रियों का दमन तथा मन का नियमन नितान्त आवश्यक है।

श्रमणसंस्कृति की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता और ऐतिहासिकता के लिए काल गणना के अनुसार यद्यपि कोई काल निश्चित करना सम्भव नहीं है तथापि इसकी सर्वाधिक प्राचीनता निर्विवाद है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि यह संस्कृति अपने अक्षुण्ण स्वरूप के साथ अनादिकाल से सरित प्रवाह की भाँति भारत की वसुन्धरा पर प्रवाहित होती हुई मानव मात्र का कल्याण करती आ रही है, फिर भी ऐतिहासिक रूप से दृष्टिपात करने पर इस संस्कृति के आद्य प्रवर्तक के रूप में भगवान् ऋषभदेव को मान सकते हैं। भगवान् ऋषभदेव जैनधर्म के आदि तीर्थंकर हैं तथा वेदों व पुराणों द्वारा उनकी ऐतिहासिकता सुविदित है। भगवान् ऋषभदेव प्रथम श्रमण हैं। अतः श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक की दृष्टि से उनकी प्राचीनता ही श्रमण संस्कृति की भी प्राचीनता उतनी ही मानी जा सकती है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि भारत के उत्तर पश्चिम से प्रविष्ट हुए आर्यों के साथ जो संस्कृति आई उसके पूर्व भी यदि यहाँ कोई संस्कृति थी तो वह श्रमण संस्कृति थी, बाहर से आए हुए आर्यों का अधिकार सप्तसिंधु तक ही था, पश्चात् वे आगे बढ़े तो उत्तर भारत में अयोध्या, हस्तिनापुर, मगध, काशी की प्राचीन

संस्कृति के साथ उन्हें संघर्ष करना पड़ा। उस प्राचीन संस्कृति का मूलतत्त्व आत्मा था। इस आत्मतत्त्व को अपनी संस्कृति में स्थान देने के लिए उपनिषदों की रचना की गई व और आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का आविष्कार किया गया, अतः यह निश्चित है कि आत्मा के सम्बन्ध में अन्य संस्कृतियाँ श्रमण संस्कृति से प्रभावित हैं।

श्रमण संस्कृति और श्रमणत्व की प्राचीनता की दृष्टि से कतिपय प्रमाणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है, अतः कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं—

“नाभेः प्रियचिकीर्षयातदवरोधायने मरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमण नामृषीणामूर्ध्वमथिना शुक्लया तनुमावततार।”

—भागवत पुराण ५/३/२

अर्थात् महाराज नाभि का प्रिय करने की इच्छा से उनके अन्तःपुर में महारानी मरुदेवी के गर्भ से श्रमण ऊर्ध्वगामियों का धर्म प्रकट करने के लिए वृषभदेव शुद्ध सत्वमय शरीर से प्रकट हुए।

भागवतकार ने आद्य मनु स्वायम्भुव के प्रपौत्र नाभि के पुत्र ऋषभ को निर्ग्रन्थ श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता माना है, ऋषभदेव ने ही श्रमणधर्म को प्रकट किया था। उनके सौ पुत्रों में से नौ पुत्र श्रमणमुनि बने। भागवत में यही उल्लेख मिलता है—

नवाभवन् महाभाग मुनयो ह्यकेससिनः ।

श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदाः ॥

अर्थात् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में से नौ पुत्र जो बड़े भाग्यवान्, आत्मज्ञान में निपुण और परमार्थ के अभिलाषी थे, वे श्रमण वातरशना मुनि हुए, वे अनशन आदि तप करते थे।

यहाँ श्रमण शब्द से अभिप्राय है—“श्राम्यति तपः क्लेशं सहते इति श्रमणः।” अर्थात् जो स्वयं तपश्चरण करते हैं वे श्रमण होते हैं।

“वातरशना ह वा ऋषयः श्रमण ऊर्ध्वमथिनो बभूवुः।”

—तैत्तिरीयारण्यक २/७

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

२७६

सायण—“वातरशनाख्याः ऋषयः श्रमणास्तप-
स्विनः ऊर्ध्वमथिनः ऊर्ध्वरेतसः ।”

श्रमण ऋषि तप से सम्पूर्ण कर्म नष्ट करके
ऊर्ध्वगमन करने वाले हुए ।

सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाने पर जीव स्वभावतः
ऊर्ध्वगमन करता है और लोक के अन्त तक चला
जाता है । जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का ही
है और वह सदा इसके लिए प्रयत्नशील रहता है ।
किन्तु कर्मों का भार होने के कारण वह उतना ही
ऊर्ध्वगमन करता है जितना कर्मों का भार कम
रहता है, किन्तु जब कर्मों का भार बिलकुल हट
जाता है और जीव कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता
है तो अपने स्वभाव के अनुसार वह लोक के अन्त
तक ऊर्ध्वगमन करता है । यथा—“तदनन्तरमूर्ध्व
गच्छत्यालोकान्तात् ।” —त्वार्थ सूत्र १०/५

जैन शास्त्रों में जहाँ पर भी मोक्ष का वर्णन
आया है वहाँ पर इसका विस्तार से कथन मिलता
है । सम्भवतः श्रमण वातरशना मुनियों के लिए
ऊर्ध्वमयी, ऊर्ध्वरेता कहने में वैदिक ऋषियों
को जैन शास्त्र सम्मत ऊर्ध्वगमन ही अभीष्ट रहा
हो ।

प्रस्तुत प्रसंग में बृहदारण्यकोपनिषत् का निम्न
उद्धरण भी प्रमाण की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण
है—

“श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वा-
गतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान्छोकान् हृदयस्य
भवति ।” —बृहदा. ४/३/२२

श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते
हैं । उस समय यह पुरुष पुण्य से असम्बद्ध तथा
पाप से भी असम्बद्ध होता है और हृदय के सम्पूर्ण
शोकों को पार कर लेता है ।

“श्रमणः परिव्राट् यत्कर्म निमित्तो भवति, स
तेन विनिर्मुक्तत्वादश्रमणः”—शांकरभाष्य ।

श्रमण अर्थात् जिस कर्म के कारण पुरुष परिव्राट्

होता है, उससे मुक्त होने के कारण वह अश्रमण
हो जाता है ।

जैन शास्त्रों में गुणस्थान चर्चा के अन्तर्गत जो
मुनि क्षपक श्रेणी आरोहण करता है उसके सम्बन्ध
में भी लगभग ऐसा ही वर्णन आता है । श्रेणी
आरोहण करने वाला श्रमण मुनि पाप और पुण्य
दोनों से रहित हो जाता है और कषाय तथा घाति-
चतुष्क का नाश करके कैवल्य की प्राप्ति कर
लेता है ।

श्रमण प्रायः सतयुगमें होते हैं ऐसी मान्यता
भागवतकार की है, यथा—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पादान् जनैर्धृतः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृपः ॥
सन्तुष्टाः करुणा मैत्राः शान्ता वान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः ॥

—भागवत १२/३/१८-१९

श्री शुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! कृतयुग में
धर्म के चार चरण होते हैं—सत्य, दया, तप और
दान । इस धर्म को उस समय के लोग निष्ठापूर्वक
धारण करते थे । सतयुग में मनुष्य सन्तुष्ट, करुणा-
शील, मित्रभाव रखने वाले, शान्त, उदार, सहन-
शील, आत्मा में रमण करने वाले और समान
दृष्टि वाले प्रायः श्रमणजन ही होते थे ।

जैनाचार्य श्री जिनसेन ने आदिपुराण में कृत-
युग में ही ऋषभदेव का जन्म माना है । उस युग
का नामकरण ही ऋषभदेव के कारण हुआ और
वह कृतयुग कहलाया ।

युगादि ब्रह्मणा तेन यदित्थं स कृतोयुगः ।
ततः कृतयुगं नाम्ना तं पुराणविदो विदुः ॥
आषाढमासबहुलप्रतिपादि दिवसे कृती ।
कृत्वा कृतयुगारम्भं प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥

—आदिपुराण १६/१८६-१९०

चूँकि युग के आदि ब्रह्मा भगवान् ऋषभदेव ने
इस प्रकार कर्मयुग का आरम्भ किया था, इसलिए
पुराण के जानने वाले उन्हें कृतयुग नाम से जानते

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

हैं। कृतकृत्य भगवान ऋषभदेव आषाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन कृतयुग का प्रारम्भ करके प्रजापति कहलाये।

जैन मान्यता के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने कर्म की भाँति धर्म का भी उपदेश दिया और जगत में उसका प्रचलन किया। उस समय कृतयुग था जब लोगों की प्रवृत्ति धर्म की ओर अधिक थी। जैन श्रमणमुनियों का सर्वत्र विहार था। यही बात भागवतकार भी कहते हैं। भागवत के उपर्युक्त श्लोकों में प्रायशः शब्द विशेष उल्लेखनीय है। उसका आशय यही है कि अधिकांश श्रमणों में ये गुण पाये जाते थे। प्रायः सभी श्रमणों का जीवन निष्पाप था और उनके जीवन में अनाचार नहीं था। इस प्रकार ऋषभदेव काल की जनता के आचार-विचारों के सम्बन्ध में दोनों परम्परा एकमत हैं।

ब्रह्मोपनिषद् में भी परब्रह्म का अनुभव करने वाले की दशा का जो वर्णन आया है उससे भी पूर्वोक्त आशय की पुष्टि होती है, यथा—

“श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापसः एकमेव तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम् ।”

—ब्रह्मोपनिषद्, पृ० १५१

श्रमण शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध होता है। इस कथा में भी वृहदारण्य-कोपनिषद् की भाँति ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया गया है।

तृदिला अतृदिलासो अद्रयो श्रमण अश्रुथिता अमृत्यवः। अनातुराः अजराः स्थामविष्णावः सुपविसो अतृपिता अतृष्णजः ॥

—ऋग्वेद १०/८/१४/११

सायण—“अश्रमणाः श्रमणवर्जिताः अश्रुथिताः अन्यैरशिथिलीकृताः अमृत्यवः अमारिताः अनातुराः अरोगाः अजराः जरारहिताः स्थमवय। किंच अप-विष्णवः उत्क्षेपणवक्षेपणगत्युपेताः हे आवाणः तृदिलाः अन्येषां भेदकाः अतृदिलासः स्वयमन्येना-भिन्नाः सुपविसः सुबलाः अतृषिताः तृषारहिताः अतृष्णजः निःस्पृहा भवय ।”

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

हे आदरणीय अश्रमण आप श्रमणरहित, दूसरों के द्वारा शिथिल न किये जा सकने वाले, मृत्यु-वर्जित, रोगरहित, जराररहित और उत्क्षेपण गति-युक्त हो, किंच आप भेदक (भेदविज्ञानी) किन्तु दूसरों से भेदन न किये जा सकने वाले बलवान, तृष्णारहित और निर्मोह हो।

उपर्युक्त सूक्त का अभिप्राय यह है कि जिस चारित्र्य से मनुष्य श्रमण कहलाता है उससे मुक्त अर्थात् आत्मस्थ होने पर वह श्रमण कहलाता है, शिथिलाचार रहित तथा मृत्यु, भय, बुढ़ापा, तृष्णा और लोभ से रहित कोई भी श्रमण, तपस्वी अन्त-मुहूर्त से अधिक काल तक आत्मध्यान के बिना नहीं रह सकता, किंच श्रमविष्णवः (उत्क्षेपणावक्षेप-णगत्युपेता) बार-बार ऊपर नीचे गुणस्थान में चढ़ता उतरता रहता है। इसके अतिरिक्त निर्मोही, निस्पृह, दुखों और संशयों से रहित, इन सब में बलवान होने से वह आदर योग्य और सबसे भिन्न होता है।

वैदिक काल में श्रमण शब्द का अधिक महत्व रहा है, वैयाकरण अत्यन्त अनिवार्य स्थिति में ही किसी शब्द विशेष के लिए नियम बनाते थे, अन्यथा नहीं। श्रमण शब्द के सम्बन्ध में व्याकरण ग्रन्थों में विशेष नियम उपलब्ध होता है, इससे श्रमण शब्द का महत्व स्वतः सिद्ध होता है। सर्वप्रथम शाकटायन में ऐसा नियम बनाया गया है—

“कुमारः श्रमणादिना” —शाकटायन २/१/७८

श्रमण शब्द के साथ कुमार और कुमारी शब्द की सिद्धि विषयक यह सूत्र है, उस काल में कुमार श्रमण ऐसे पद लोक प्रचलित थे। यह शब्द संज्ञा उस तापसी के प्रचलित थी जो कुमारी अवस्था में श्रमणा (आर्यिका) बन जाती थी। श्रमणादि गण-पाठ के अन्तर्गत कुमार प्रव्रजिता, कुमार तापसी जैसे विभिन्न शब्दों से यह सिद्ध होता है कि उस समय कुमारियाँ प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं, यह लोक विश्रुत था। भगवान ऋषभदेव की ब्राह्मी और

२८१

सुन्दरी दोनों पुत्रियों ने कुमारी अवस्था में ही श्रमणा पद ग्रहण किया था। विवाह के लिए समुच्चत राजीमती भी नेमिनाथ द्वारा दीक्षा लेने पर श्रमणा (आर्यिका) बन गई थीं। तीर्थकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ने भी कुमार अवस्था में ही श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी। स्वयं शाकटायन भी श्रमण संघ के आचार्य थे। जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

“महाश्रमण संघाधिपतिर्यः शाकटायनः”

—शाकटायन व्याकरण चि० टीका १

प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी का निम्न सूत्र भी दृष्टव्य है—

“कुमारः श्रमणादिभिः”—अष्टाध्यायी २/१/७०

“येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाशः श्रमणब्राह्मणम्” —पातजल महाभाष्य ३/४/६

पाणिनी के इस सूत्र का यह उदाहरण है, जिनका शाश्वत विरोध है यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ जो विरोध शाश्वतिक बतलाया है वह किसी हेतु विशेष से उत्पन्न नहीं हुआ। शाश्वतिक विरोध सैद्धान्तिक ही हो सकता है। क्योंकि किसी निमित्त से होने वाला विरोध उस निमित्त के समाप्त होने पर दूर हो जाता है। किन्तु महर्षि के शाश्वतिक पद से यह सिद्ध होता है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का कोई विरोध है जो शाश्वतिक है। इस आशय से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मण वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए एकेश्वरवाद तथा ज्ञान से मुक्ति मानते जबकि श्रमण परम्परा अनेकेश्वर तथा अनेकान्त सिद्धांत के आधार पर अनासक्ति, त्याग और कठोर तपश्चरण के द्वारा कर्मों की निर्जरापूर्वक मुक्ति को मानते हैं, उनके अनुसार सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य से ही मोक्ष की उपलब्धि सम्भव है। इसके अतिरिक्त श्रमण विचारधारा के अन्तर्गत ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व स्वीकार नहीं किया गया है। श्रमण और ब्राह्मणों का यही सैद्धान्तिक विरोध शाश्वतिक कहा जा सकता है।

२८२

वस्तुतः ज्ञान और क्रिया का संयुक्त रूप ही मोक्ष का हेतु है, जैसा कि कहा गया है—“ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः इति सर्वज्ञोपदेशः”—सूत्रार्थ मुक्तावलि ४५

ब्राह्मणा भुंजते नित्यं नाथवन्तश्च भुंजते ।

तापसा भुंजते चापि श्रमणाच्चैव भुंजते ॥

—बाल्मीकि रामायण वा०

यहाँ नित्यप्रति बहुत से ब्राह्मण, नाथवन्त, तपस्वी और श्रमण भोजन करते हैं।

इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही—श्रमणसंस्कृति की अविच्छिन्न, परम्परा वैदिक काल में पर्याप्त विकसित तथा पूर्णता प्राप्त थी, उस समय इसके अनुयायियों की संख्या भी अपेक्षा दृष्टि से बहुत अधिक थी, वर्तमान में मोहन जोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त सांस्कृतिक अवशेषों में अनेक ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जिससे जैनधर्म और श्रमण संस्कृति की प्राचीनता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है, अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से यह तथ्य सिद्ध है कि वैदिक युग में ब्राह्मणों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म ने किया। धर्म, दर्शन, संस्कृति, नीति, कला और शिल्प की दृष्टि से भारतीय इतिहास में जैनधर्म का विशेष योग रहा है।

जैनधर्म और श्रमण संस्कृति के सम्बन्ध का जहाँ तक प्रश्न है वह सर्वथा निर्मूल एवं अव्यावहारिक है, क्योंकि दो वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध केवल वहाँ होता है जहाँ दो वस्तुओं में पृथकता या भिन्नता होती है, यहाँ श्रमण संस्कृति वस्तुतः जैनधर्म से भिन्न या पृथक् नहीं है, दोनों में शाब्दिक भिन्नता अवश्य है। दोनों अभिन्न और एक हैं। जैनधर्म के कारण श्रमण संस्कृति का आध्यात्मिक पक्ष इतना समुज्ज्वल और लोक कल्याणकारी हुआ है, यही कारण है कि यह संस्कृति जैन संस्कृति के नाम से भी व्यवहृत होती व जानी

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

जाती है, जैनधर्म में श्रमण शब्द का व्यापक व्यवहार तथा श्रमणों के आचार-विचार के कारण ही जैनधर्म के सांस्कृतिक स्वरूप ज्ञापन करने की दृष्टि से लोक व्यवहार में उसका व्यवहार श्रमण संस्कृति के नाम से किया जाने लगा। निग्रन्थ जैन साधु का आचरण करने वालों के लिए प्राचीनकाल में श्रमण शब्द इतना अधिक प्रचलित और प्रसिद्धि प्राप्त हुआ कि उसके आधार पर तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक परम्परा एवं विचारधारा को श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाने लगा।

श्रमण संस्कृति का स्वरूप एवं व्यापकता

श्रमण संस्कृति का स्वरूप सदैव व्यापक रहा है, पारस्परिक भेदभाव एवं विरोध की भावना ने इस संस्कृति में कभी प्रश्रय नहीं पाया। यही कारण है कि प्राणि मात्र में समता भाव का आदर्श प्रस्तुत करने का श्रेय मात्र श्रमण संस्कृति को ही लब्ध हो सका है। समता के आदर्श का मुख्य आधार है सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त (व्यापक दृष्टिकोण) तथा पारस्परिक स्नेह, प्रेम और सौहार्द का भाव। मनुष्य में इन भावों का प्रत्युद्गमन उसकी उस मानसिक निर्मल वृत्ति का परिचायक है जो क्रमशः द्वेष, ईर्ष्या और व क्रोधरहित भाव के जन्म का हेतु है, यही भाव मानव सुलभ वृत्ति के प्रतिपादक होते हैं, जो जीवन की वैषम्यपूर्ण स्थिति में समत्व वृत्ति की प्रेरणा प्रदान करते हैं। यही समत्ववृत्ति मानव-जीवन में आने वाली विपत्तियों और जीवन-यापन की दुरूहता का समूलोच्छेद करने में सहायक होती है।

प्राणियों में पारस्परिक भय से समुत्पन्न मनःस्थिति ही अनेक विषमभावों की जन्मदात्री है, जब तक जीवन में भयपूर्ण स्थिति का पूर्णतः उच्छेद नहीं हो जाता तब तक समत्ववृत्ति का भाव मानव मानस में उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। जीवन में निर्भयता, ऋजुता और समता भाव की प्रेरणा केवल अहिंसा से ही प्राप्त होती है। यह अहिंसा ही श्रमण संस्कृति का मूल है, वर्तमान में प्राणियों ने

अपने समाज में अपने निम्नोच्च एवं कलुषित भावों के आधार पर कुछ इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रश्रय दे रखा है जिसके कारण उसके आचरण एवं व्यवहार से दूसरों में निर्भयता उत्पन्न नहीं हो पाती। यही कारण है कि सभी प्राणी अपने सजातीय अथवा विजातीय प्राणियों से सदा भयभीत एवं शंकाशील बने रहते हैं। समाज की यह स्थिति हिंसापूर्ण वृत्ति या आचरण की परिचायक है। प्राणियों को इस प्रकार की वृत्ति से मुक्त करना तथा उनमें समत्वभाव उत्पन्न करना ही श्रमण संस्कृति का मूल है। इसका सैद्धान्तिक, वैचारिक एवं व्यवहारिक रूप ही श्रमण संस्कृति का परिचायक तथा उसकी व्यापकता का द्योतक है।

मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष को समुज्ज्वल बनाने वाली श्रमण संस्कृति वस्तुतः भारतीय संस्कृति की वह प्रमुख धारा है जिसे अतीत और वर्तमान में पीड़ित एवं कराहती हुई मानवता को आश्रय प्रदान कर हिताहित विवेक द्वारा आत्म-कल्याण करने तथा भूले व भटके हुए प्राणियों को सन्मार्ग में लाकर जीवन का अन्तिम लक्ष्य बतलाने का श्रेय प्राप्त है। श्रम-त्याग-तपस्या-शम-इन्द्रिय विषय-कषायनिग्रह—समताभाव तथा मन-आत्मा की निर्मलता, पवित्रता तथा सांसारिक विषयों के प्रति अनासक्ति भाव का संयुक्त रूप ही श्रमण संस्कृति का वह व्यापक स्वरूप है जो 'सर्वजनहिताय' की पावन भावना से परिपूर्ण है।

आध्यात्मिक अथवा आत्मवादी होने के कारण श्रमण संस्कृति ने भारतीय जन-जीवन को अमूल्य देन दी है। निवृत्तिपरक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तथा इस परिभ्रमणशील संसार से आत्मा की मुक्ति के लिए जितना जोर श्रमण संस्कृति ने दिया है, उतना किसी अन्य संस्कृति ने नहीं दिया। श्रमण स्वभावतः मुमुक्षु होता है और उसके लिए अपनी आत्मा की मुक्ति प्रधान लक्ष्य है। इसीलिए श्रमण संस्कृति में आत्मतत्व व मोक्षतत्व मुख्य विचारणीय (शेषांश पृष्ठ २८६ पर देखें)

चतुर्थ खण्ड : जैन संस्कृति के विविध आयाम

२८३